P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-1) May- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

संविधान एवं संविधानवाद : उद्विकास और प्रवृत्तियाँ

शीतल मीना
सह आचार्य,
राजनीति विज्ञान विभाग,
बाबू शोभाराम राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर,
राजस्थान, भारत

सारांश

शासन सत्ता पर नियंत्रण की आवश्यकता प्राचीनकाल से ही की जा रही हैं। लार्ड एक्टन का यह कथन कि – ''शक्ति भ्रष्ट करती हैं और अधिक शक्ति और भ्रष्ट करती हैं। यही कारण हैं कि शुरू से ही शासकों को कानूनों, सुरक्षाओं और संतुलन शक्तियों के माध्यम से नियंत्रित और प्रतिबंधित करने का प्रयास किया जाता रहा हैं इस दृष्टि से प्राचीनकाल से ही राजसत्ता पर नैतिक अधिबंधनों एवं धर्मशास्त्रीय अधिबंधनों के साथ ही शाश्वत विधि, प्राकृतिक विधि, दैवीय विधि एवं लौकिक विधि के अधिबंधनों आदि के रूप में विभिन्न उपायों पर विचार करने की लम्बी परम्परा दिखाई देती हैं। लेकिन अनुभव यह रहा हैं कि इस प्रकार के नियंत्रणों कि प्रभावशीलता स्वयं शासक वर्ग की इच्छा पर निर्भर करता हैं और जब कभी विद्यमान शासक वर्ग की सत्ता के लिए चुनौती उत्पन्न हो शासक वर्ग औचित्य की धारणाओं की मनमानी व्याख्या करते हुए सत्ता पर निहित नियंत्रणों कि अवहेलना और उल्लंघन का मार्ग अपना लेता हैं। अतः सोचा गया कि सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र को एक सांवैधानिक विधि के नियंत्रण में होना चाहिए तथा राजनीतिक शक्ति के दुरूपयोग से बचाव की प्रक्रिया का उल्लेख एक ऐसे दस्तावेज में होना चाहिए जिसे सामान्यतः संविधान कहा जाता है तथा संविधान में निहित मान्यताओं, मूल्यों और राजनीतिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए शासकों को नियमित अधिकार क्षेत्र में रहने के लिए बाध्य करने कि सांवैधानिक नियंत्रण व्यवस्था को संविधानवाद कहा जाता हैं। चूँकि संविधान नियमों व कानूनों का संग्रह होता हैं और कानून निर्वैयक्तिक होते है जो व्यक्ति के स्थान पर विधि को महत्व देते हैं और विधि के समक्ष सब समान होते है। इसलिए संविधान एवं संविधानवाद मिलकर लोकतान्त्रिक भावना एवं व्यवस्था पर आधारित प्रभावशाली शासन व्यवस्था की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं जिसमें शासन का आतंक नही हों। अतः आज आवश्यकता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संविधान एवं संविधानवाद के मूल्यों के विकास की है।

मुख्य शब्द : संविधान एवं संविधानवाद, राजनीतिक शक्ति, कानून, मूल्यों, शक्ति भ्रष्ट, दस्तावेज आदि।

प्रस्तावना

किसी भी संगठन के कुशल संचालन के लिए नियमों की आवश्यकता रहती हैं राज्य भी एक जटिल संगठन हैं अतः उसके कुशल संचालन के लिए लिखित अथवा अलिखित नियमों की आवश्यकता होती हैं। सरकार के विभिन्न अंग तथा शासक अपनें कार्यो को नियमानुसार करे, मनमानी नही करे, इसके लिए कुछ नियम आवश्यक है। वस्तुतः शासन–व्यवस्था के संचालन के नियमों का दूसरा नाम संविधान हैं। साधारण भाषा में संविधान उन वैधानिक नियमों का समूह हैं जिनके द्वारा किसी देश की शासन–व्यवस्था निश्चित होती हैं। संविधान में सरकार के भिन्न–भिन्न अंगों के संगठन, उनके अधिकार–शक्तियाँ, शासन की प्रक्रिया, उनके पारस्परिक संबधों का उल्लेख रहता है। अरस्तू तो संविधान को राज्य के जीवन का ढंग मानता था क्योंकि संविधान तो वह तरीके हैं जिनके अनुसार चलकर कोई भी राज्य जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है तथा उसको पूर्ण उन्नति के अवसर प्रदान करता हैं। जेलिनेक के शब्दों में ''संविधानहीन राज्य की कल्पना नही की जा सकती क्योंकि संविधानहीन राज्य की सत्ता ही असंभव हैं संविधान के अभाव में राज्य अराजक कहा जाता है।[1] संविधान के कई प्रकार है– लिखित संविधान तथा अलिखित संविधान, नम्य अथवा अनम्य संविधान आदि।[2] संविधानवाद से आशय ऐसी शासन–प्रणाली हैं जिसमें सरकार की शक्तियों के ऊपर नियमित व कारगर प्रतिबंध लगे हो तथा विधि के अनुसार संचालित हो। यूरोप में इसका आरम्भ कंसीलियर आन्दोलन से माना जाता है जो आरम्भ में चर्च की प्रभुसत्ता के विरूद्ध था लेकिन जिसने आगे चलकर राजाओं की स्वेच्छाचारिता का कम से कम धर्म के क्षेत्र में उनके नियंत्रण

का विरोध किया। 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति ने संविधानवाद को और अधिक मजबूत करने का काम किया। स्वस्थ लोतान्त्रिक परम्परा, सुसंगठित राजनीतिक दल, विरोधी दल, जनता में राजनीतिक शिक्षा, लिखित संविधान तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका आदि किसी देश में संविधानवाद की सफलता के लिए आवश्यक तत्व माने जाते है। इस प्रकार संविधान एवं संविधानवाद एक –दूसरे के पर्यायवाची न होकर दोनों में काफी अन्तर मौजूद हैं। हर समाज का एक लक्ष्य होता हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति किस प्रकार से होगी अर्थात किन साधनों का प्रयोग किया जायेगा इसका उल्लेख संविधान में किया जाता हैं इस प्रकार संविधान साधनयुक्त धारणा हैं तो संविधानवाद साध्युक्त हैं जो किसी देश के मूल्यों, आदर्शो एवं विश्वास का प्रतिनिधित्व करता है। संविधानवाद के द्वारा सांवैधानिक मूल्यों, आदर्शो में आस्था व्यक्त कर संविधान को मजबूती प्रदान की जाती है। एक सफल शासन के संचालन के लिए इन दोनों अवधारणाओं को परस्पर सामंजस्य के माध्यम से सुढ़ढ़ता प्राप्त की जा सकती है।[3]

संविधान : अर्थ, परिभाषा

संविधान का अर्थ है –मूलभूत वैधानिक प्रलेख, राज्य की मूल संस्थाएं, विधियां, परम्पराएं और महत्वपूर्ण अभिसमय, विधियों एवं प्रथाओं की समग्र व्यवस्था । संविधानवाद के अर्थ में संविधान उन उपायों की समष्टि है जिनके द्वारा राजनीतिक शक्ति के प्रयोक्ताओं पर मर्यादाओं तथा प्रतिबंधों का आरोप किया जाता है। सर जेम्स मैकाइन्तोश के शब्दों में राज्य के संविधान का अभिप्राय हैं ''वे लिखित और अलिखित विधियां जो उच्च शासको के सबसे महत्वपूर्ण अधिकारों का और प्रजाजनों के सबसे आवश्यक विशेषाधिकारों का नियमन करती है।'' स्विस विद्वान चार्ल्स बोर्जो ने संविधान की परिभाषा करते हुए कहा हैं ''संविधान वे आधारभूत विधि हैं जिसके अनुसार राज्य का शासन संगठित होता हैं और व्यक्तियों के समाज के प्रति संबध उचित रीति से निर्धारित होते है। यह किसी प्रभु शक्ति द्वारा किसी निश्चित समय में निर्मित एक लिखित प्रलेख या प्रलेखों की माला हो सकता हैं अथवा वह न्यूनाधिक रूप से निश्चित अनेक विधायी अधिनियमों, अध्यादेशों, न्यायिक निर्णयों, पूर्वोदाहरणों और नाना प्रकार के लोकाचारों का परिणाम हो सकता है।'' डायसी के अनुसार संविधान उन समस्त नियमों का संग्रह हैं जिनका राज्य की प्रभुसत्ता के प्रयोग अथवा वितरण पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।''[4]

संविधान उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि संविधान उन नियमों, रीति–रिवाजो, कानूनों, परंम्पराओं एवं प्रथाओं का प्रतिनिधित्व करता हैं जो किसी शासन–व्यवस्था को निश्चित रूप प्रदान करती हैं।

संविधान उद्विकास : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

प्रत्येक स्वाधीन राष्ट्र का अपना संविधान होता है। जिसके अनुसार उस राष्ट्र की शासन–व्यवस्था के संचालन का होता है। वही संविधान राष्ट्रीय विकास में भरपूर योगदान दे सकता हैं, जिसे उस राष्ट्र की जनता ने स्वयं बनाया हो अथवा उस देश की संविधान निर्मात्री सभा द्वारा बनाया गया हो। पूर्ण प्रभुता संपन्न राष्ट्रों में जहां भी लिखित संविधान है उनका निर्माण जनता ने प्रायः संविधान सभाओं के माध्यम से किया हैं। संविधान सभा का कार्य ऐसा संविधान प्रारूप तैयार करना है जो एक लोकतान्त्रिक सरकार का ढांचा तैयार करवा सके। दूसरे वह एक ऐसा सक्षम संस्थागत ढांचा उपलब्ध कराये जो सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन की गति तेज कर जनमानस की सहभागिता को प्रोत्साहित करे और बढ़ती मांगो के समायोजन हेतु जरूरी संस्थात्मक स्तरों को प्राप्त करने में सक्षम हो। जैनिग्ज के अनुसार ''संविधान सभा एक ऐसी प्रतिनिध्यात्मक संस्था होती हैं जिसे नवीन संविधान पर विचार करने और अपनाने या विद्यमान संविधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए चुना जाता हैं।'' संविधान सभा की प्रेरणा स्रोत 17 वीं और 18 वीं शताब्दी की लोकतान्त्रिक क्रान्तियां हैं। इन क्रान्तियों ने इस विचार को जन्म दिया कि शासन के मूलभूत कानूनों का निर्माण नागरिको की एक विशिष्ट प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जाना चाहिए। इंगलैण्ड़ के समता वादियों तथा हेनरी मेन ने संविधान सभा के विचार का प्रसार किया, किन्तु सर्वप्रथम अमेंरिका और फ्रांस में इस विचार को क्रियान्वित किया गया। 1787ई. के फिलाड़ेलफिया सम्मेंलन में एक ऐसी संविधान सभा आहूत की गयी जिसने संयुक्त राज्य अमेंरिका का संविधान बनाया था।[5]

यद्यपि लिखित संविधानों के उदाहरण मुख्य रूप से अठारहवी शताब्दी से मिलने आरम्भ होते हैं, लेकिन प्राचीनकाल के लोग भी संविधानों से सर्वथा अनभिज्ञ नही थे। ऐसा कहा जाता हैं कि 606 ई.पू. से 404 ई.पू. तक एथेंन्स में ग्यारह संविधान बने थे।[6] अरस्तू के बारे में माना जाता हैं कि उसने अपने एथेनी संविधान विषयक ग्रन्थ की रचना करते समय 158 संविधानों का संकलन किया था। अरस्तू के अनुसार संविधान राज्य के पदों की व्यवस्था हैं, जिसमें यह निर्धारित किया जाता हैं कि राज्य का कौन सा पद विशेषकर सर्वोच्च पद किसे मिले। अरस्तू संविधान को राज्य का एक अंग और उसके ढाँचे को एक कानूनी आधार मात्र नही मानता उनके लिए तो संविधान स्वयं राज्य है। वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यंजना है। उसकी दृष्टि में संविधान में परिवर्तन हो जाने का तात्पर्य केवल मात्र पद व्यवस्था में परिवर्तन हो जाना ही नही था अपितु जनता के नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यों का पलट जाना भी था। संविधानों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण भी अरस्तू के द्वारा किया गया था। अरस्तू ने संविधानों का वर्गीकरण दो आधारों पर किया–

1. संख्या अर्थात शासन–सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित हैं ?
2. लक्ष्य या उद्देश्य अर्थात शासन का उद्देश्य सार्वजनिक हित हैं या स्वार्थ साधन ?

अपने पहले सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि राज्य एकतन्त्र उस समय होता हैं जब एक व्यक्ति जिसके हाथ में सर्वोच्च सत्ता हैं उस सत्ता का प्रयोग सर्वसाधारण के हित के लिए करता हैं। वह राज्य जिसका शासन एक व्यक्ति से अधिक किन्तु कुछ व्यक्तियों के हाथों में हो वह कुलीनतंत्र या श्रेणीतंत्र कहलाता हैं। जब राज्य कि सत्ता समस्त जनता में निहित हो और वह सबके कल्याण की दृष्टि से अपना शासन

स्वयं चला सके तो उसे लोक राज्य या संयत प्रजातन्त्र (Polity) कहते है। संविधान के उपरोक्त तीनों रूप एकतन्त्र, कुलीनतंत्र एवं संयत प्रजातन्त्र कानून–प्रिय हैं ऐसी अवस्था में राज्य शुद्ध जनहितकारी होता है। परन्तु कानून–विरोधी हो जाने पर उपरोक्त तीनों संविधान वर्गीकरण क्रमशः निरंकुशतन्त्र, धनिकतंत्र एवं भीड़तन्त्र के रूप में होता हैं। अरस्तू के मतानुसार जिस प्रकार ऋतुएँ स्वाभाविक रूप से बदलती रहती है, उसी प्रकार राज्यों के संविधानों में भी परिवर्तन होता रहता है जिसे परिवर्तन चक्र (Theory of Cycle Change) के नाम से भी जाना जाता है। अरस्तू के अनुसार संविधान का श्रेष्ठ रूप राजतन्त्र हैं पर जब राजा जनहित से मुँह मोड़कर अपने स्वार्थ सिद्धी में लग जाता हैं तब राजतन्त्र निरंकुशतन्त्र में बदल जाता हैं। कुछ समय बाद निरंकुशतन्त्र के अत्याचारों से पीड़ित होकर कुछ अच्छे योग्य व्यक्ति कुलीनतंत्र की स्थापना करते है। शासन–सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद इन अच्छे व्यक्तियों के सद्गुण अदृश्य होने लगते है और ये अपने ने स्वार्थ साधन में जुट जाते है। परिणामतः कुछ समय पश्चात् कुलीनतंत्र का पतन हो जाता हैं और इसका स्थान धनिक वर्गतंत्र ले लेता हैं धनिकतंत्र अपने न्यस्त स्वार्थो की पूर्ति के लिए जनता का शोषण करता हैं, जिससे जनता बगावत कर देती हैं और धनिकतंत्र संयत प्रजातन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। समय की गति के साथ इसका रूप भी दूषित होता चलता हैं, अव्यवस्था फैल जाती हैं और करिश्मायी नेता भीड़ के हितो पर जोर देने लगते हैं तो वह प्रजा़तन्त्र (भीड़तन्त्र) कहलाने लगता हैं। भीड़तन्त्र एक प्रकार का अतिवादी लोकतंत्र हैं। अरस्तू के अनुसार यह संविधान का निकृष्ट रूप इस रूप को प्राप्त कर लेने के बाद संविधान में फिर परिवर्तन होता है और राज्य का कोई वीर या सद्गुणी व्यक्ति अपनी सत्ता स्थापित करके कानून के शासन की स्थापना करता है। यह संविधान का राजतंत्र रूप होता हैं इसके बाद उसी भाँति संविधान के परिवर्तन का चक्र चलता रहता हैं। इस प्रकार अरस्तू ने शासन में परिवर्तन चक्र का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अरस्तू के अनुसार मध्यम वर्ग वाली शासन–व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है और इसे उसने संयत प्रजातन्त्र कहा है।[7]

आधुनिक अर्थ में संविधान शब्द का प्रयोग उन कतिपय विधियों और संविधियों के लिए किया गया था जिन्हें ब्रिटिस सम्राट हेनरी द्वितीय ने अपने एवं पादरी वर्ग के संबधों के विषय में 'कांस्टीट्यूशन ऑफ क्लैरेंडन' के नाम से जारी किया था। सत्रहवीं सदी के आरम्भ में ब्रिटीश सम्राट ने वर्जीनिया कंपनी को जो दूसरे और तीसरे चार्टर दिए थे, उनमें भी संविधान शब्द का प्रयोग किया था। विलियम पेन सिडनी और जेम्स हेरिंगटन की राजनीतिक रचनाओं में भी इस शब्द का पुनर्वार उल्लेख हुआ है। तथापि नियमित रूप से लिखित संविधानों की परंम्परा ड़ालने का श्रेय अमेंरिका के उन तेरह राज्यों को प्राप्त हैं जिन्होंने अमेरिकी स्वातन्त्रय युद्ध के फलस्वरूप इंगलैण्ड़ की अधीनता से मुक्त होकर अपने संविधान की रचना की। अमेरिका के पश्चात फ्रांस (1791), स्पेन (1812), नार्वे (1814), डेनमार्क (1815), पुर्तगाल (1822), बेल्जियम (1831), स्विट्जरलैण्ड़ (1848), आस्ट्रिया (1861), और स्वीडन (1866), आदि अधिकांश यूरोपीय देशो ने लिखित संविधान को अपनाया।[8]

संविधान के विकास की रीतियाँ[9]

संविधान का विकास मूल रूप तीन रीतियों से होता हैं–

संविधान संशोधन की प्रणाली

प्रायः लिखित संविधानों में संशोधन की प्रणाली वर्णित रहती है जिसका आवश्यकतानुसार प्रयोग कर संविधान में संशोधन कर लिया जाता हैं। इस प्रकार संविधान संशोधन के माध्यम से संविधान का विकास होता हैं।

न्यायाधीशों अथवा न्यायपालिका द्वारा की गयी व्याख्या

न्यायालय संविधान के अस्पष्ट भावों का आवश्यकता पड़ने पर स्पष्टीकरण करते हैं, उनकी व्याख्या करते हैं, ऐसी व्याख्याएं संविधान का अंग बन जाती हैं। और इस प्रकार संविधान विकसित होता रहता है।

रीति–रिवाज

प्रत्येक संविधान अपने व्यवहार में ऐसे रीति–रिवाजों को अपना लेता हैं कि कालान्तर में उन रीति–रिवाजों को संविधान का अंग मान लिया जाता हैं और उनका पालन भी उसी प्रकार किया जाता हैं जैसे सांविधानिक नियम का पालन किया जाता हैं। उदाहरणार्थ ब्रिटेन में प्रथाओं और रीति–रिवाजों ने राजतन्त्र को लोकतन्त्र में परिवर्तित कर दिया है। इस रीति–रिवाजों के द्वारा भी संविधान का विकास होता रहता है।

संविधान के प्रकार

संविधान के दो प्रकार होते है, पहला लिखित और अलिखित संविधान । दूसरा नम्य (Flexible) अनम्य (Rigid) संविधान।

लिखित संविधान निर्मित होता हैं जिसका निर्माण किसी संविधान सभा अथवा इस प्रयोजन के लिए आमंत्रित किये गये सम्मेंलन द्वारा किया जाता हैं। संयुक्त राज्य अमेंरिका, भारत, फ्रांस अथवा सोवियत संघ के संविधान लिखित संविधान के उदाहरण हैं। अलिखित संविधान का निर्माण किसी सभा अथवा सम्मेंलन द्वारा नही किया जाता हैं यह ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है। इसके विकास में प्रायः संसदीय विधियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं और इन सबका 'संचयी स्वरूप' (Cumulative Form) अलिखित संविधान कहलाता हैं। ग्रेट ब्रिटेन अलिखित संविधान के उदाहरण हैं। अतः अलिखित संविधान विकसित संविधान होता हैं निर्मित नही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लिखित संविधान वह हैं जिसकी धारायें लिखित हो और अलिखित संविधान वह हैं जो परम्पराओं और अभिसमयों पर आधारित हो। किंतु संविधानों की दुनिया में कोई भी ऐसा संविधान नही हैं जो पूर्ण रूप से लिखित और अलिखित हो। सी.एफ. स्ट्रांग का भी मानना हैं कि 'लिखित और अलिखित संविधान का अन्तर 'भ्रामक एवं मिथ्या' हैं क्योंकि कोई भी संविधान पूर्णतः लिखित और अलिखित नही होता।[10] उनका मत हैं कि परम्पराएँ जो अलिखित संविधान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती हैं। लिखित संविधानों में कालान्तर में परम्पराएं और अभिसमय विकसित होकर उसका अंग बन जाती हैं। ब्रिटेन के

संविधान को अलिखित संविधान कहा जाता हैं फिर भी उसमें अनेक परिवर्तन वहाँ की संसद द्वारा बनाये गये कानूनों द्वारा किये गये हैं वे सभी लिखित हैं। उदाहरणार्थ – मताधिकार संबधी 1832, 1867, 1918 और 1928 के कानून तथा पार्लियामेंन्ट एक्ट ऑफ 1912 लिखित संविधान के रूप है। इसी प्रकार अमेंरिका के लिखित संविधान में अनेक परम्पराओं का विकास हुआ हैं और अब भी हो रहा हैं। इस प्रकार लिखित और अलिखित संविधान का अन्तर भ्रामक है।

नम्य एवं अनम्य संविधान

लॉर्ड ब्राइस ने संविधान की संशोधन प्रणाली को आधार मानकर उनको नम्य (Flexible) अनम्य (Rigid) बताया हैं। उनका मत हैं कि जिन संविधानों में सामान्य विधि प्रक्रिया के द्वारा संशोधन संभव होता हैं उन्हे लचीला संविधान की संज्ञा दी जाती हैं। पारिभाषिक दृष्टि से नम्य अथवा लचीला संविधान उसे कहा जाता हैं जिसमें साधारण कानून बनाने और संविधान के नियमों में संशोधन की प्रक्रिया में कोई अन्तर नही माना जाता। अर्थात् जहाँ जिस प्रक्रिया से साधारण कानून पारित किये जाते हैं उसी साधारण प्रक्रिया से संविधान के नियमों में परिवर्तन किया जा सके। ग्रेट ब्रिटेन में यही स्थिति है।

इसके विपरीत जिस देश में साधारण कानून और संविधान के नियमों में अन्तर माना जाता हैं अर्थात जिन संविधानों में संशोधन की विशिष्ट प्रणाली हो, उन्हे अनम्य संविधान माना जाता हैं। कठोर संविधानों में परिवर्तन का तरीका संविधान में ही लिखा होता है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका में साधारण कानून बनाने का कार्य तो कांग्रेस का हैं परन्तु संविधान में संशोधन कि विशिष्ट प्रणाली है। सांविधानिक संशोधन के लिए यह आवश्यक हैं कि संशोधन के प्रस्ताव को पहले कॉंग्रेस के दोनों सदन, हाउस ऑफ रिप्रेजेण्टेटिव्स तथा सीनेट, प्रत्येक दो–तिहाई बहुमत से स्वीकृत करे और फिर उसे पचास राज्यों की विधान–सभाओं के कम से कम तीन चौथाई बहुमत से स्वीकार किया जाये। इस विशिष्ट प्रणाली के कारण संयुक्त राज्य अमेंरिका का संविधान कठोर संविधान माना जाता हैं ।

संविधान के प्रकारों का विश्लेषण करने के पश्चात यह प्रश्न हमारे समक्ष उठता हैं कि लिखित और अलिखित संविधान तथा नम्य और अनम्य संविधान में श्रेष्ठ कौनसा है ? इस हेतु हमें लिखित और अनम्य संविधान तथा अलिखित और नम्य संविधानों के गुण–दोषों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। लिखित और अनम्य संविधान का सबसे बड़ा गुण उसकी निश्चितता हैं लेखबद्ध होने से उनकी व्याख्या स्पष्ट रूप से की जा सकती है। संघात्मक शासन–प्रणाली में संघ व राज्यों के अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख कर देने के कारण अधिकारों के अतिक्रमण की अवस्था में न्यायालय की मदद ली जा सकती है। इसके अतिरिक्त लिखित संविधान प्रजा अथवा विधायकों के भावावेशों से शासनतंत्र की रक्षा करता है। किन्तु लिखित और अनम्य संविधान भी पूर्णतः दोषरहित नही हैं। लिखित संविधान समय की गति के साथ नही चल पाते इससे उनमें रूढ़ता आ जाती है। इसके अतिरिक्त न्यायधीशों द्वारा लिखित संविधानों की व्याख्या करते समय संविधान की शक्ति से उपर उठकर अपने आप को नई शक्ति के रूप में स्थापित कर लेते है जिससे न्यायपालिका 'तीसरे सदन' का रूप धारण कर लेती है। इसके विपरीत अलिखित और नम्य संविधान में समयोचित परिवर्तन किये जा सकने के कारण वे संकटकालीन परिस्थितियों में मुकाबला करने में सक्षम होते हैं। अलिखित और नम्य संविधान की दुर्बलता यह हैं कि रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर आधारित होने के कारण यह अस्थायी एवं अनिश्चित होता हैं। नागरिकों के क्या अधिकार हैं इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होने के कारण अपने अधिकारों की रक्षा भली प्रकार से नही कर पाते। लिखित और अनम्य संविधान तथा अलिखित और नम्य संविधानों के गुण–दोषों पर दृष्टिपात करने के पश्चात हम यह कह सकते हैं कि एक अच्छा संविधान वह माना जाता हैं जिसमें सुनिश्चितता, संक्षिप्तत, व्यापकता, नमनीयता तथा अनमनीयता का समुचित मिश्रण हो। इसके अतिरिक्त एक आदर्श संविधान से यह अपेक्षा की जाती हैं कि उसमें नागरिको के अधिकार–कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख हो, सरकार के विविध अंगो–विधान–मंडल, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका कि शक्तियों का समुचित वितरण हो तथा उसमें देश की सामाजिक नीति का स्पष्ट उल्लेख हो। उसमें इतनी दूरदर्शिता एवं नमनीयता हो कि जिसके द्वारा सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक संकटो की चुनौतियों का सामना शासन–व्यवस्था की निरन्तरता एवं स्थिरता को क्षति पहुँचाये बिना किया जा सके।[11] वस्तुतः ऐसे आदर्श संविधान में ही संविधानवादी मूल्यों का अंकुरण संभव है।

संविधानवाद की अवधारणा

लार्ड एक्टन का यह कथन कि ''शक्ति भ्रष्ट करती हैं और निरंकुश शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट करती हैं।''[12] इसी कारण शासन और शासक वर्ग पर नियंत्रण की आवश्यकता प्राचीनकाल से ही अनुभव की जाती रही है। प्राचीनकाल में इस प्रकार के नियंत्रण नैतिक धारणाओं, धार्मिक उपदेशों और औचित्य–अनौचित्य की सामान्य धारणाओं के रूप में थे। लेकिन इस प्रकार के नियंत्रणों की प्रभावशीलता स्वयं शासक वर्ग कि इच्छा पर निर्भर करती है और जब कभी विद्यमान शासक वर्ग कि सत्ता के लिए चुनौती उत्पन्न हो शासक वर्ग औचित्य कि धारणाओं की मनमानी व्याख्या करते हुए सत्ता पर निहित नियंत्रणों की अवहेलना और उल्लंघन का मार्ग अपना लेता है। अतः यह सोचा गया कि शासक वर्ग की शक्तियों पर प्रभावी कानूनी नियंत्रण होने चाहिए। शासक वर्ग की शक्तियों पर प्रभावी कानूनी नियंत्रण का उल्लेख जिस दस्तावेज में होता हैं उसे संविधान एवं संविधान में निहित मान्यताओं, मूल्यों और राजनीतिक आदर्शो की प्राप्ति के लिए शासकों को नियमित अधिकार क्षेत्र में रहने के लिए बाध्य करने की सांवैधानिक नियंत्रण व्यवस्था को संविधानवाद कहा जाता है।

संविधानवाद के सीमित एवं व्यापक दो अर्थ हैं।[13] सीमित अर्थ में संविधानवाद ऐसी अवधारणा हैं जो संविधान के अनुसार शासन पर बल देती है। किन्तु संभव है कि स्वयं संविधान का निर्माण ही निरंकुशतन्त्र की स्थापना करता हो तब उसे संविधानवाद कहना उचित नही होगा। वस्तुतः संविधानवाद की एक पूर्व शर्त

सांवैधानिक शासन की स्थापना हैं, इसलिए शासन ऐसा होना चाहिए जिसकी शक्तियाँ सीमित हो और वह अपने कार्यो के लिए जन समूह (शासित वर्ग) के प्रति उत्तरदायी हो। व्यापक अर्थ में संविधानवाद केवल विधि के अनुसार शासन ही नही हैं अपितु स्वयं संविधान एवं विधि ऐसी होनी चाहिए जो कि निरंकुश व स्वेच्छाचारी शासन के स्थान उचित एवं मर्यादित शासन की स्थापना करते हो।

संविधानवाद को परिभाषित करते हुए कोरी एवं अब्राहम ने कहा हैं कि ''स्थापित संविधान के निर्देशों के अनुरूप शासन संविधानवाद हैं।'' जे. एस. राउसैक ने संविधानवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा हैं ''यह अनिवार्य रूप से सीमित सरकार तथा शासन के रूप में नियंत्रण की एक व्यवस्था है।''

इस प्रकार संविधानवाद नियमों और कानूनों का संग्रह मात्र ही नही होता अपितु इसमें राजनीतिक जीवन के मूल्य, विश्वास, राजनीतिक आदर्श और संस्कृति सभी कुछ संविधानवाद में समाये रहते हैं। संविधानवाद निश्चित रू‍प से संविधान से कुछ अधिक है।

संविधानवाद उद्‌विकास : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

संविधानवाद कि अवधारणा का उद्‌विकास प्राचीन यूनानी नगर–राज्यों से ही देखने को मिलती है। प्लेटो और अरस्तू ने नैतिक दृष्टि से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया। प्लेटो ने 'अति मानव' की आवश्यकता पर जोर दिया जबकि अरस्तू ने व्यवहारिक राज्य की स्थापना पर अपने विचार प्रकट किये। रोमनकाल में 'महान साम्राज्यवाद' की स्थापना हुयी। उन्होंने अपने कानून का संहिताकरण किया और उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्तों का निर्धारण किया जो संविधानवाद के अत्यंत लोकप्रिय सिद्धान्तों में शामिल किया जाने लगा। मध्यकाल में प्रतिनिधि शासन का शुभारंभ हुआ जो आधुनिक समय में अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का आधार हैं इसी युग का परिषदीय आन्दोलन संविधानवाद के विकास के लिए महत्वपूर्ण रहा हैं। पुनर्जागरणकाल में नैतिकता व राजनीति को पृथक किया गया। इसके पश्चात प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना ने संविधानवाद के विकास में अभूतपूर्व व्यवस्था की। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद का एक नया मॉडल अस्तित्व में आया जिसे साम्यवादी दुनिया के देशों में देखा जा सकता है। तीसरी दुनिया के देशों ने संविधान निर्माण के कई प्रयोग किये ताकि वे सांवैधानिक राज्य का रूप ले सके।

अरस्तू के समय से लेकर आज तक संविधानवाद के विकास के परिणामस्वरूप संविधानवाद के तीन रूप सामने आये हैं जो इस प्रकार है– पाश्चात्य संविधानवाद, साम्यवादी संविधानवाद और विकासशील देशों का संविधानवाद। पाश्चात्य संविधानवाद की धारणा के आधार हैं– व्यक्ति की स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा लोकल्याण की साधना। साम्यवादी संविधानवाद की मान्यताएँ हैं– सामाजिक जीवन में आर्थिक पहलू की सर्वोच्चता, समाज में आर्थिक शक्ति सम्पन्न वर्ग का प्रभुत्व तथा राजनीतिक शक्ति का आर्थिक शक्ति के अधीन होना। आर्थिक शक्ति को सार्वजनिक सत्ता के अधीन बनाने के लिए साम्यवादी समाजों में प्रायः निम्न संस्थागत व्यवस्थाओं को प्रमुखता दी जाती है– उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व, सम्पत्ति का समान वितरण तथा साम्यवादी दल का एकाधिकार। विकासशील देशों में राजनीतिक अस्थायित्व की समस्या, आर्थिक विकास की समस्या, राजनीतिक सत्ता की वैधता की समस्या, राजनीतिक संरचना के विकल्पों के चुनाव समस्या आदि के कारण संविधानवाद के आधार निश्चित नही हो पाये है।[14]

संविधान एवं संविधानवाद की आधारभूत अवधारणाओं के विवेचन के उपरान्त हमारे लिए साधारण बोलचाल में एक जैसे सुनायी पड़ने वाली इन दोनों अवधारणाओं में अन्तर हम इस प्रकार से कर सकते है :–

1. संविधान संगठन का प्रतीक है जबकि संविधानवाद विचारधाारा का प्रतीक है। संविधान में सरकार, व्यक्ति और सामाजिक संगठनों के संबधों का वर्णन होता है। दूसरी संविधानवाद में देश के मूल्य, विश्वास और राजनीतिक आदर्श होते जिनसे मिलकर विचारधारा बनती है और इसी विचारधारा का प्रतीक संविधानवाद है।
2. संविधान प्रायः निर्मित होते हैं। दूसरी ओर संविधानवाद हमेशा विकास का परिणाम रहा हैं। मूल्यों व आस्थाओं का यह विकास परम्पराओं, संस्थाओं और शासन संबधी तत्वों में विश्वास के कारण होता रहता है।
3. प्रायः हर समाज का एक लक्ष्य होता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति की व्यवस्था ही संविधानवाद है। संविधान साधनयुक्त धारणा हैं जबकि संविधानवाद साध्ययुक्त।
4. संविधानवाद अनेक देशों में एक जैसा हो सकता हैं संस्कृति, मूल्य, विश्वास और राजनीतिक आदर्श भी कई देशों में एक जैसा हो सकता हैं। संविधानवाद की समानता के बावजूद हर देश का संविधान अलग–अलग होता है।
5. संविधान का औचित्य विधि के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है जबकि संविधानवाद में आदर्शो का औचित्य का प्रतिपादन मुख्यतः विचारधारा के आधार पर होता है।[15]

इस प्रकार संविधान एवं संविधानवाद दोनों में पर्याप्त हैं किन्तु दोनों अवधारणाओं में अन्तर होते हुए भी दोनों एक–दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। संविधान पर ही संविधानवाद आधारित रहता हैं वही दूसरी ओर संविधानवाद द्वारा संविधान के मूल्यों, आदर्शो के क्रियान्वयन में सहयोग प्रदान किया जाता है। किसी भी देश में युद्ध का वातावरण, जनता की सामाजिक–आर्थिक असंतुष्टि, निरंकुशतावाद आदि संविधानवाद के विकास में बाधक हैं जिन्हे सामर्थ्यवान एवं मर्यादित शासन के द्वारा अपने नागरिको को व्यक्ति की स्वतन्त्रता, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा लोकल्याण की साधना कर संविधानवाद को बनाये रखा जा सकता है।[16]

सारतः संविधान एवं संविधानवाद उदारवादी लोकतंत्र की आधारभूत विशेषताएँ हैं। संविधान में कानून को सर्वोच्चता प्रदान की जाती हैं। अरस्तू ने भी कानून

की सर्वोच्चता को श्रेष्ठ शासन का एक लक्षण माना हैं। कानून में अव्यक्तिगत तत्व होते हैं। उनमें मानवीय विकारों का समावेश नही होता इसलिए कानून का शासन सर्वश्रेष्ठ माना जाता हैं। संविधान के मूल्यों, आदर्शो को सुरक्षित रखने में संविधानवाद की महती भूमिका हैं कोई भी राज्य संविधानवाद के मार्ग पर चलकर ही अपने नागरिकों में शासन के प्रति समर्थन बना सकता हैं। अतः आज आवश्यकता संविधान एवं संविधानवाद की चुनौतियों का निदान कर ऐसे परिवेश के विकास की हैं जिसमें संविधान एवं संविधानवाद पल्लवित हो सके। साथ ही राज्यों को आपसी संबधों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों में विश्वास व्यक्त कर सहयोग करने की हैं जिससे सम्पूर्ण विश्व में संविधानवाद का विकास हो सके।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

हरी प्रकाश गर्ग, राजनीतिशास्त्र, गर्ग बुक कंपनी, जयपुर–1961 पृ.80

बी.आर. पुरोहित, राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर–2013 पृ. 357

सुभाष काश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त, राजनीतिविज्ञान कोष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय–2011 पृ. 95–96

सुभाष काश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त, नोट–3, पृ. 91

पुखराज जैन, भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन, आगरा –1997 पृ. 10

सुभाष काश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त, नोट–3, पृ. 92

प्रभुदत्त शर्मा पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स) कॉलेज बुक डिपो, जयपुर –1994 पृ.125–131

सुभाष काश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त, नोट–3, पृ. 92

बी.आर. पुरोहित, राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर–2013 पृ. 365–66

बी.आर. पुरोहित, राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर–2013 पृ. 359–361

हरी प्रकाश गर्ग, नोट–1, पृ.83

पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के मूल आधार,, साहित्य भवन, आगरा –2017 पृ. 68

श्रीराम वर्मा, राजनीति विज्ञान के मूल आधार, कॉलेज बुक सेन्टर, जयपुर –2007 पृ. 456–457

पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के मूल आधार,, साहित्य भवन, आगरा –2017 पृ. 194–197

बी.एल. फडिया, राजनीति विज्ञान के मूल आधार, कॉलेज बुक हाउस, जयपुर –2017 पृ. 197–198

पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के मूल आधार,, साहित्य भवन, आगरा –2017 पृ. 197–200